अपेक्षित भी है, किन्तु वे ऐसी हैं जो सम्यक्त्वको दूषित करने वाली न हों, उसकी पोषक हों——मोक्षमार्गमें बाधक न हों, उसकी साधक हों।

१८५७ ई० के स्वातन्त्र्य समरके उपरान्त जब इस महादेश पर अंग्रेजी शासन सुव्यवस्थित हो गया तो प्रायः समग्र देशमें नवजागृति एवं अभ्युत्थानकी एक अभूतपूर्व लहर शनै शनैः व्याप्त होने लगी, जिससे जैन समाज भी अप्रभावित न रह सका। फलस्वरूप लगभग १८७५ से १९२५ ई० के पचास वर्षोंमें शिक्षा एवं धर्मप्रचारके साथ-साथ समाज सुधारके भी अनेक आन्दोलन और अभियान चले। धर्मशास्त्रोंका मुद्रण-प्रकाशन, शिक्षालयोंकी स्थापना, स्त्रीजातिका उद्धार, कुरीतियोंके निवारणके उपक्रम, कई अखिल भारतीय सुधारवादी संगठनोंका उदय तथा धार्मिक-सामाजिक पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन आदि उन्हींके परिणाम थे। जातिप्रथाकी कुरीतियों एवं हानियों पर केवल तथाकथित बाबूपार्टी (आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त सुधारक वर्ग) ने ही नहीं, तथाकथित पंडितदलके भी गुरु गोपालदास बरैया जैसे महारथियोंने आवाज उठाई। बा० सूरजभान वकील, पंडित नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतलप्रसाद, आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार प्रभृति अनेक शास्त्रज्ञ सुधारकोंने उस अभियानमें प्रभूत योग दिया। अनेक पुस्तकें व लेखादि भी लिखे गए। मुख्तार सा० की पुस्तकें जिनपूजाधिकार मीमांसा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनधर्म सर्वोदय तीर्थ हैं, ग्रन्थपरीक्षाएँ आदि पण्डित दरबारी लाल सत्यभक्त की विजातीय विवाह मीमांसा, बा० जयभगवानकी वीरशासनकी उदारता, पण्डित परमेष्ठीदासकी जैनधर्मकी उदारता, जैसी पुस्तकें तथा विभिन्न लेखकोंके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए और सुधारकोंके मंचीय जो भी मिले भाषणोंमें समाजको झकझोरा। समाजमें विचार परिवर्तन भी होने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्तिके उपरान्त आधुनिक युगकी नई परिस्थितियोंसे उसमें और अधिक वेग आया। ऐसी स्थितिमें, जैसा कि स्व० साहू शान्तिप्रसादजी ने अनुभव किया था, विवक्षित विषयों पर जैनशास्त्रीय दृष्टिसे सांगोपांग मीमांसाकी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्री पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी इस पुस्तक 'वर्ण, जाति और धर्म मीमांसा' से बड़े अंशोंमें हुई है। पुस्तक तलस्पर्शी और मौलिक हैं, और विवेचित विषयोंके सम्बन्धमें समाजको दिशादर्शन देनेकी पूरी क्षमता रखती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वतन्त्र विचारणाको प्रेरणा और प्रोत्साहन देती है। पाठक पग-पग पर पुनः पुनः सोचने और अपनी पूर्व बद्ध धारणाओंमें संशोधन करनेके लिए विवश होता है। इस पुस्तकके प्रणयनके लिए पंडितजी साधुवादके पात्र तो हैं ही।

●

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा : एक समीक्षा

श्री प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

आत्माका कल्याण या उत्कर्ष मोक्षमार्ग पर चलनेसे प्रारम्भ होता है। उस मोक्षमार्गको प्रशस्त करनेके लिए जिनेन्द्रकी वाणी पथकी प्रज्ज्वलित प्रदीप है। यह जिनवाणी चार अनुयोगोंमें विभक्त हैं। ये चारों ही अनुयोग आत्मोत्थानके लिए अत्यन्त उपयोगी वीतराग मार्गको पुष्ट करते हैं। यद्यपि उनकी कथन-पद्धति एक दूसरेसे भिन्न मालूम पड़ती है। उनमें नय दृष्टिसे तो अन्तर दिखता है, किन्तु लक्ष्य और भाव सबका एकमात्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शांति-पथका प्रदर्शन करना है। कुछ अनुयोगोंमें व्यवहार प्रधान कथन है, तो निश्चय उसमें गौण है। किसीमें निश्चय प्रधान कथन है, तो उसमें व्यवहार गौण है। नयोंका अभाव किसी भी अनुयोगमें देखनेको नहीं मिलेगा। क्योंकि वस्तुस्वरूपको समझनेके लिए दोनों नयोंका ज्ञान आवश्यक है। जिज्ञासु यदि किसी भी नय को अस्वीकार कर देगा तो वह मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा। वह आगमका भाव और वस्तुस्वरूपको कभी भी नहीं समझ सकता है। वस्तुस्वरूपका ज्ञान न होनेसे उसे सुख शान्तिका पथ मोक्षमार्ग कभी प्राप्त नहीं हो सकता है।

जहाँ ज्ञान दोनों नयोंका आवश्यक है वहाँ श्रद्धा दोनों नयोंकी नहीं होती है। श्रद्धा उसीकी होती है जो अपनेसे पूज्य और बड़ा हो। अपनेको पूज्य भी वही है जिससे अपने सुखकी प्राप्ति रूप प्रयोजनकी पूर्ति हो। अतः श्रद्धा निश्चयनयके विषयभूत त्रिकाली ध्रुव स्वभावकी होती है। क्योंकि उसीका आश्रय लेनेसे मोक्षमार्ग या धर्मकी प्राप्ति होती है। व्यवहारनय अशुद्ध अवस्था या अखण्ड वस्तुको खण्ड करके बतलाता है। अर्थात् त्रिकाल वस्तुका स्वरूप जैसा है, व्यवहारनय वैसा नहीं बतलाता है। अत: ज्ञानका ज्ञेय होकर भी वह ध्यानका ध्येय या श्रद्धाका श्रद्धेय नहीं है। इसलिए श्रद्धाकी अपेक्षा हेय कहा गया है। क्योंकि उसकी श्रद्धा से या ध्यानसे मुक्तिका मार्ग या धर्मका प्रारम्भ नहीं होता है। यद्यपि हेय, उपादेयका निर्णय ज्ञान ही कराता है, किन्तु ज्ञान यह कभी नहीं कहता है कि ये विकारादि आत्माका असली स्वरूप है या आश्रय करने योग्य है। शुद्धाशुद्ध पर्याय या गुणभेद आदिको जानकर भी उससे उपेक्षित रहता है। इसलिए व्यवहारको हेय और निश्चयनयको उपादेय कहा गया है।

समय-समय पर ऐसा जरूर देखा गया है कि धर्मोपदेशककी रुचिके अनुसार कभी-कभी निश्चयप्रधान कथन-शैलीकी मुख्यता रही तो कभी व्यवहार शैलीकी प्रधानता रही है, वहाँ दूसरा धर्म गौण रहता है। पहला धर्म मुख्य हो जाता है। यदि इस दृष्टिसे श्रोतागण सुननेका प्रयास करें तो कभी बैर-विरोध नहीं बढ़ सकता है।

यहाँ गौणका अर्थ अभाव नहीं है, किन्तु उसका सद्भाव होते हुए भी इस समय उसका प्रयोजन नहीं है, जिसका प्रयोजन है, वह कथनमें आ रहा है। ज्ञान दोनोंका किया जाता है, किन्तु ध्यान एकका ही किया जाता है। क्योंकि उपयोग एक समयमें एकको ही लक्ष्य बनाता है। एक समयमें दो उपयोग नहीं होते और दो समयमें एक उपयोग नहीं होता है। ध्यान भी उसीका किया जाता है, जिससे अपने प्रयोजनकी पूर्ति हो। संसारमें रहते हुए जीवका एकमात्र प्रयोजन सुख प्राप्ति है। वह सुखकी प्राप्ति अपने स्वभावके आश्रयसे होती है और त्रिकाली शाश्वत स्वभावको बतानेवाला निश्चयनय है। व्यवहारनय तो वस्तुके खण्ड रूप या मिश्रित अवस्थाका ज्ञान कराता है। जिसके ध्यानसे राग एवं संसारकी ही वृद्धि होती है। अतः आचार्योंने निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है।

आजसे कुछ दशाब्दियों पूर्व व्यवहार क्रिया-काण्डका ही बाहुल्य रहा है। देखा-देखी परम्परा एवं भावशून्य धर्म क्रियाएँ, बल्कि यहाँ तक कि गृहीत मिथ्यात्वका भी पोषण होता रहा है। लोग धीरणेन्द्र, पद्मावती आदि कुदेवोंकी पूजा जिनेन्द्र मन्दिरमें जिनेन्द्र भगवान्की तरह करते थे। अतः पण्डित टोडरमलजीको सत्यका प्रचार करनेके लिए महान् संघर्षका सामना करना पड़ा था, बल्कि इसी संघर्षको झेलते हुए उन्हें अपना बलिदान भी देना पड़ा था।

ऐसा ही युग इस बीसवीं शताब्दीमें आत्मवेत्ता, अध्यात्म शैलीके महान् प्रचारक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीके उद्भवके समय देखा गया है। यद्यपि इनके पूर्व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी एवं विद्वद्प्रवर पूज्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणेशप्रसादजी वर्णी अध्यात्मकी ज्योति जला चुके थे, किन्तु उनके युगमें इतना अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका था, जितना श्री सत्पुरुष कानजी स्वामीके युगमें हुआ। इनकी अध्यात्मकी कथन शैली इतनी आकर्षक एवं प्रभावशाली प्रमाणित हुई कि भारतके कोने-कोनेसे लोग सुननेके लिए उनके पास चले आते थे और सरल भाषामें अध्यात्मकी कथनीको सुनकर इतने प्रभावित हो जाते थे कि अपने नगर और गाँवोंमें जाकर अध्यात्मकी चर्चा वार्ता एवं स्वाध्यायमें समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थोंका पठन-पाठन, अध्ययन-मनन होने लगा। प्रति वर्ष इनके शिक्षण-शिविर लगाये जाते जिनमें हजारों भाई-बहिनें जाकर अध्यात्मकी गहराइयोंमें प्रवेश करने लगे, गाँव-गाँवमें अध्यात्मका शंखनाद गूँजने लगा।

सभी स्थानोंमें निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म और सात तत्त्वोंकी चर्चासे दिग्दिगंत व्याप्त होने लगा। किन्तु जो व्यवहार धर्मको ही सब कुछ माने बैठे थे उसमें ही अपने धर्म-कर्तव्यकी इतिश्री मानते थे। उन्हें यह अध्यात्मका प्रचार-प्रसार रुचिकर नहीं लगा। उनकी अपनी मान्यताकी नाव डगमगातीसी लगने लगी। अतः जिस तुफानी ढंगसे अध्यात्मका प्रचार-प्रसार बढ़ता, उसी तूफानी ढंगसे उसका विरोध भी बढ़ने लगा इसके विरोधके लिए लुप्त प्रायः कुछ संस्थाओंका पुनरोदय हुआ। कुछ पत्र-पत्रिकाओंने विरोध करनेका बीड़ा ही उठा लिया था। गजटोंके पूरे पन्ने विरोधसे भरे जाते थे। इस विरोधने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि समाज दो फिरकोंमें बँट गया। विरोध करने वाले भाइयोंने अध्यात्म प्रेमियोंका नाम 'सोनगढ़ी' या 'सोनगढ़पंथी' रख दिया और अपनेको आगमपंथी कहने लगे। इस विरोधकी पृष्ठभूमिमें कुछ महाव्रती मुनि वर्गका भी सहयोग प्राप्त था।

अनेक स्थानोंपर अध्यात्म प्रेमियोंका बहिष्कार किया जाने लगा। कहीं-कहीं पर तो भयंकर उपद्रव भी किये गये, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इसकी जानकारी पूज्य १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजके संघको हुई, तो आचार्यश्रीने यह भावना व्यक्त की कि दोनों ओरके विद्वान् यदि एक स्थान पर बैठकर तत्त्वचर्चाके द्वारा अपने आपसी मतभेद दूर कर लें तो समाजमें अनावश्यक बढ़ता हुआ विरोध शान्त हो सकता है। इस शुभ संकल्पको लेकर संघमें श्री ब्र० सेठ हीरालालजी और ब्र० लाड़मलजीने महाराजश्रीकी प्रेरणासे आपसमें सद्भावना स्थापित करनेके लिए एक सम्मेलन बुलानेका निश्चय किया। यह सम्मेलन दि० २०-८-६३ से १-१०-६३ तक जयपुरके पास प्राचीन स्थान खानियांमें चला था। इस चर्चाकी पृष्ठभूमिमें श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित "जैनतत्त्वमीमांसा" ग्रन्थका प्रकाशन प्रमुख रूपसे रहा है। क्योंकि जिन विषयोंपर विरोध किया जाता था उनका विवेचन इस प्रकाशनमें विशद रूपसे किया गया था।

आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजके संघकी उपस्थितिमें समागत १७ विद्वानोंकी एक गोष्ठी हुई, जिसमें कुछ नियम इस तत्त्वचर्चाके लिए निर्धारित किये गये।

वे इस प्रकार थे—

१. चर्चा वीतरागभावसे होगी।

२. चर्चा लिखित होगी।

३. वस्तु सिद्धिके लिए आगम ही प्रमाण होगा।

४. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दीके ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे।

५. चर्चा शंका-समाधानके रूपमें होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. दोनों ओरसे शंका-समाधानके रूपमें जिन लिखित पत्रोंका आदान-प्रदान होगा, उनमेंसे अपने-अपने पत्रोंपर अधिकसे अधिक ५-५ विद्वानों और मध्यस्थकी सही होगी। इसके लिए दोनों पक्षोंकी ओरसे अधिकसे अधिक ५-५ प्रतिनिधि नियत होंगे।

७. किसी एक विषय संबंधी किसी विशेष प्रश्नपर शंका-समाधानके रूपमें पत्रोंका आदान-प्रदान अधिकसे-अधिक तीन बार तक होगा।

दिनांक २२ अक्तूबर, १९६३ से पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी महाराजकी उपस्थितिमें २३ विद्वानोंकी उपस्थितिमें चर्चा विषयक नियमोंमें एक नियम यह भी स्वीकृत किया गया—८. चर्चामें सामाजिक, पंथ-सम्बन्धी तथा व्यक्तिके सम्बन्धमें कोई चर्चा न होगी।

पश्चात् श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकार इंदौर मध्यस्थ चुने गये।

प्रतिनिधियोंका चुनाव इस प्रकार किया गया, प्रथम पक्षकी ओरसे पांच प्रतिनिधियोंके नाम इस प्रकार प्रस्तुत हुए—

१. श्री पं० माणिकचंदजी न्यायाचार्य, फिरोजाबाद, २. श्री पण्डित मक्खनलालजी शास्त्री, मुरैना, ३. पंडित जीवंधरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर, ४. श्री पंडित वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना, ५. पंडित पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर।

२. द्वितीय पक्षकी ओरसे सिर्फ तीन नाम प्रस्तुत किये गये—१. श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धांतशास्त्री और श्री नेमिचन्दजी पाटनी, आगरा और ३. श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी। चर्चाके विषय पं० मक्खनलालजी द्वारा प्रस्तुत—

१. द्रव्य कर्मोंके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?
२. जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?
३. जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?
४. व्यवहार धर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?
५. द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी।
६. उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं ?

इन चर्चाओंके समाधानके लिए तीन-तीन दौर चले थे। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष शंका रखता था, उसका समाधान पं० फूलचन्द्रजीको अपने सहयोगियोंके सहयोगसे दूसरे दिनके १ बजे तक सौंप देना होता था।

शंका १—द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान—समयप्राभृत गाथा ८३ में कहा गया है कि कर्मके उदय और रागादि भावमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। विकार कर्मके उदयमें होता है, यह बात सत्य है, किन्तु कर्मका उदय विकार नहीं कराता है। प्रवचनसारकी गाथा नं० ७७ और १६९ में भी यही कहा है—कि कर्मके योग्य कार्मण वर्गणा अपने आप जीवकी परिणतिको निमित्त करके कर्मभावको प्राप्त करते हैं; जीव कर्मोंको परिणमाता नहीं है। समयसार गाथा १०५ का और उसकी टीकाका प्रमाण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया गया है कि कर्म जीवको विकार कराता है, यह मात्र उपचार कथन है।

इसके पश्चात् पूर्व पक्षने पुनः प्रतिशंका उपस्थित करते हुए पंचास्तिकाय गाथा ५५-५८ आदिके अनेक प्रमाण देकर यह बतलानेका प्रयत्न किया कि कर्ममें भी ऐसी अपूर्व शक्ति है कि यह केवलज्ञानादिको रोके हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। द्रव्यसंग्रह, प्रवचनसार, देवागम, समयसार, समयसारकलश, धवला, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थोंके आधारसे कर्म और विकारी भावोंमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध बतानेका प्रयत्न किया गया और उनको विकारक-विकार्य सिद्ध किया गया तथा कार्मण वर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमन करती है। इसमें श्लोकके 'स्वयमेव' सुप्रसिद्ध शब्दका अर्थ 'अपने आप' न करके 'अपने रूप' परिणमन करती हैं यह अर्थ प्रकट किया गया है।

इस प्रतिशंकाका समाधान करते हुए पं० फूलचन्द्रजी और सहयोगियोंने स्पष्टीकरण दिया कि हेतुकर्ता शब्दका व्यपदेश निमित्त कारणमें ही किया गया है, क्योंकि सभी निमित्त धर्म द्रव्यकी तरह उदासीन निमित्त ही हैं। चाहे उन्हें प्रेरक निमित्त कहो, चाहे अंतरंग निमित्त कहो, वह तो परद्रव्य ही हैं। इष्टोपदेश श्लोक ३५ के अनुसार कोई निमित्त अज्ञानीको ज्ञानी नहीं बना सकता और ज्ञानीको अनेक अज्ञानी मिलकर भी अज्ञानी नहीं बना सकते तथा कोई भी निमित्त अभव्यको भव्य और भव्यको अभव्य नहीं बना सकता है। "समयसार कलश" ५१ में कहा गया है कि जो परिणमन करता है, वही उसका कर्ता है। जो परिणमन होता है, वह कर्म है और जो परिणति होती है वह क्रिया है। वास्तवमें ये तीनों भिन्न नहीं हैं। निश्चयसे ये तीनों एक ही द्रव्यमें घटित होते हैं। निमित्तकर्ताको उपचारसे ही कर्ता मानना युक्तिसंगत है।

जहाँपर निश्चय उपादान होता है वहाँ अन्य द्रव्य उसका अविनाभाव सम्बन्धवश व्यवहार हेतु कहा जाता है। धवला पुस्तक ६ पृ० ५९ में कहा है—कर्मसंज्ञक पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तापनेका आरोप किया जाता है।

इसके पश्चात् तृतीय दौरमें फिरसे पूर्व पक्षने प्रतिशंका उपस्थित की—कि जो क्रोधादि विकार होते हैं, वह बिना कर्मोदयके होते हैं क्या ? या द्रव्य कर्मोदयके अनुरूप होते हैं ? संसारी जीवका चतुर्गति रूप भ्रमण प्रत्यक्ष देखा जाता है कि यह कर्माधीन हो रहा है। यदि बिना कर्मोदयके विकार स्वीकार किया जावे तो वह ज्ञानादिकी तरह स्वभाव बन जायगा। "समयसारकलश" में भी आत्माको भाव्य और फलदान शक्ति युक्त कर्मको भावक कहा गया है। इस प्रकार कर्मोंकी शक्तिको प्रदर्शित करनेवाले परमात्मप्रकाश, मूलाराधना, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, इष्टोपदेश, उपासकाध्ययन, आत्मानुशासन, समयसारकलश आदिके प्रमाण देकर कर्मोंको विकारका कर्ता स्वीकार करनेकी प्रेरणा दी तथा उपचार कर्ताको निश्चयकर्ता बतलानेका प्रयत्न किया गया तथा उपादान और निमित्तकी समग्रताका अर्थ दो प्रकारसे किया गया। एक तो षड्गुणी हानिवृद्धि रूप परिणमन परनिरपेक्ष होता है, दूसरा अनुकूल निमित्तोंके सहयोगसे विकारी परिणमन होता है।

भावलिंगकी प्राप्तिके लिए द्रव्यलिंगकी प्राप्ति अनिवार्य कारण बतलाकर उपादानकी जागृतिमें निमित्तकी अनिवार्यता सिद्ध की गई है। तथा यह शंका भी उठाई गई है कि जब उपादान अपना काम कर लेता है, तब निमित्तकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अतः दोनों कारणोंसे कार्य होता है, ऐसा स्वीकार करो।

इस प्रतिशंका ३ का समाधान करते हुए उत्तरपक्षने कहा कि कर्मका उदय निमित्त मात्र है, मुख्य कर्ता नहीं है। क्योंकि "समयसार कलश" ५३ में कहा गया है—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते, तथा दो द्रव्योंका एक परिणाम भी नहीं होता है, दो द्रव्योंकी एक परिणति (क्रिया) भी नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही रहेंगे, एक नहीं होते। आगममें कथन अवश्य ही कहीं निमित्तकी मुख्यतासे होता है, कहीं उपादानकी मुख्यतासे। परका संपर्क जीव अपनी इच्छासे करता है, परपदार्थ इसे बलात् अपने रूप नहीं परिणमा सकते हैं। निश्चयनय अभिन्न कर्ता-कर्म बतलाता है, व्यवहारनय भिन्न कर्ता-कर्म कहकर संयोगकी उपस्थितिका ज्ञान कराता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावक भाव्यका आशय है कि जब तक जीव मोहोदयमें एकत्वबुद्धि करता रहता है, तब तक मोहोदय भावक औरआत्माका विकारी भाव भाव्य कहलाता है। यदि मोहोदय बलात् विकार करावे, तो जीव कभी भी मोहको नष्ट कर ही नहीं सकता है। यह भावक भाव्य भाव व्यवहार कथन है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म भी केवलज्ञान आदिके घातनेमें निमित्त मात्र है। रागादिको पुद्गल कहनेका आशय यह है कि वे जीवके स्वभाव भाव नहीं हैं, तथा विकारी भावोंमें ज्ञान न होनेसे उन्हें पुद्गल कहा है, न कि वे रूप, रस, गंध, स्पर्शवाले पुद्गल हैं और न कर्मकृत पुद्गल हैं। "तत्त्वार्थसूत्र" और "पुरुषार्थसिद्धयुपाय" में उसे जीवकृत परिणाम भी कहा है। वहाँ जीवकी अपनी कमजोरीका दर्शन कराया है।

नियतनय और अनियत नयका अर्थ है—सब अवस्थाओंमें व्याप्त रहनेवाला त्रिकाली अन्वयरूप द्रव्य स्वभाव नियतनय है और परिवर्तनशील पर्याय स्वभाव अनियत है तथा पूर्वपक्षने असद्भूत व्यवहारनयको उपचारित मानना अस्वीकृत किया है, उसे आगमके परिप्रेक्ष्यमें देखें, तो उपचारका प्रसिद्ध लक्षण है—एक वस्तुके धर्मको दूसरेमें आरोपित करना उपचार या व्यवहार कहा है। उपचारके बाद भी जो उपचार किया जाता है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे—कुंभकारका कर्म घट कहना।

कुंभकार अपने योग और उपयोगका तो कदाचित् कर्ता कहा जा सकता है, किन्तु वह घटरूप परिणमित न होनेसे घटका कर्ता तो उपचारसे ही कहा जाता है।

शंका–२—जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म होता है या नहीं।

समाधान—शरीर पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है अतः पुद्गलकी क्रियासे आत्माका धर्म अधर्म नहीं होता है। छह ढालामें कहा भी है, 'देहजीवको एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।" जो शरीर और आत्माकी क्रियाको एक मानता है, वह तत्त्वज्ञान रहित मूर्ख बहिरात्मा है अर्थात् अज्ञानी जीव शरीरकी क्रियासे धर्म अधर्म या पुण्यपाप मानते हैं। धर्मात्मा जीव शरीरकी क्रियासे आत्माको धर्म-अधर्म नहीं मानते हैं। इसके पश्चात् पुनः प्रतिशंका उपस्थित की गई कि प्रतिशंका २—जीवित शरीरको सर्वथा जड़ मान लेनेसे किसीकी भी हिंसा करनेपर हिंसाका पाप नहीं लगना चाहिये तथा जीवित शरीर चलता-फिरता है, इष्ट स्थानपर पहुँचता है। पूजा, व्रत, शील, संयम, दान देना, तप करना, उपदेश देना आदि सब क्रियायें शरीरसे ही होती हैं। "कायवाङ्मनः कर्मयोगः"—सूत्रके अनुसार शरीर की क्रियासे आस्रव होता है। "तत्त्वार्थसूत्र" में अजीवाधिकरण आस्रव शरीराश्रित क्रियासे होता है। वज्रवृषभनाराचसंहननसे शुक्लध्यान होकर मुक्ति प्राप्त होती है। उससे सातवाँ नरक भी मिलता है।

प्रतिशंका २ का समाधान—

समयसार, गाथा १९ में कहा गया है जो कर्म, नोकर्मको अपना मानता है, वह अज्ञानी है। प्रवचनसार, गाथा १६० में कहा गया है—मैं शरीर, वाणी और मन नहीं हूँ। "नयचक्र" में कहा गया है—शरीरको जीवका कहना विजातीय असद्भूत व्यवहारनय है। स्वयंभूस्तोत्र ५९ में कहा गया है—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें बाह्यवस्तु निमित्त मात्र है तथा सावधानी वर्तते हुए द्रव्य हिंसा होने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता है। अतः पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म परिणामीके अनुसार ही होता है।

इस पर पुनः प्रतिशंका की गई—

प्रतिशंका ३—हमारा मूल प्रश्न यह था कि धर्म-अधर्ममें शरीरकी क्रिया कारण है या नहीं ? इसका उत्तर न देकर मात्र शरीरको जड़ बतलाया है, वह तो सभी मानते हैं। पं० फूलचंद्र जी ने धवला पु. १ पृ.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५० पर स्वयं लिखा है—कि भव्य होते हुए भी कुछ जीव सिद्धत्व प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उसका कारण तदनुकूल सामग्रीका न मिलना ही है। अतः योग्यता होते हुए भी बाह्य सामग्रीके अभावमें मुक्ति न मिलती है। मोतियाबिंद हो जानेसे आत्मा आंखोंसे नहीं देख पाती है। "तत्त्वार्थसूत्र" की टीकामें भी आपने पृ. २१८ पर स्वीकार किया है कि छात्र और अध्यापकके मिलनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है। उपादान हो और निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता है। तपकी साधनामें आवश्यक शरीर बलकी अपेक्षा होती है तथा बहिरंग संयमछेद काय चेष्टाको कहा गया है।

तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्मके बराबर करनेके लिए बिना इच्छाके केवलीका समुद्घात होता है। यह शारीरिक समुद्घात संसार विच्छेदका कारण बनता है, अतः शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्म होता है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—

समयसार, गाथा १६७ में रागादि भावोंको ही बंधका कारण कहा है, रागरहित भाव बंधके कारण नहीं हैं। रत्नकरण्ड श्लोक ३ में रत्नत्रयको मुक्तिका कारण और मिथ्यात्वादिको ही संसारका कारण बतलाया है। सागारधर्मामृत अ० ४ श्लोक २३ में कहा है कि यदि भाव ही बंध मोक्षके कारण न हो, तो जीवोंसे भरे इस लोकमें कहां विचरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है अर्थात् सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा निरंतर होते रहनेसे मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकते हैं? "सर्वार्थसिद्धि" ग्रंथमें कहा गया है शुभ-परिणामके निमित्तसे शुभयोग और अशुभ परिणामके निमित्तसे अशुभयोग होता है। शरीरकी क्रिया शुभ-अशुभ नहीं होती, किन्तु शुभाशुभ परिणाम के निमित्तसे शुभाशुभयोग कहा जाता है।

उत्तर पक्षने जो उदाहरण दिये हैं, उनसे उनकी मान्यता पुष्ट नहीं होती है। क्या बिना परिश्रमके विद्यार्थी विद्या सीख लेता है? जब विद्यार्थी सफल हो जाता है, तब गुरु ने ज्ञान दिया—यह कहा जाता है। समुद्घात भी शरीरमात्र की क्रिया नहीं, अबुद्धिपूर्वक आत्म पुरुषार्थ से होता है।

शंका नं० ३—जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या? इसका समाधान करते हुए परमात्मप्रकाश अ. २ श्लोक ७१ में कहा है—शुभ परिणामसे पुण्य बंध, अशुभपरिणामसे पापबंध तथा शुभाशुभ भाव रहित वीतराग परिणामसे कर्मबंधन नहीं होता है। इसी प्रकार समयसार गाथा ६४ में भी कहा है। इसके पश्चात् पूर्व पक्षने प्रतिशंका उपस्थित की—कि जीवदया शुभ भाव है यह तो ठीक है, किन्तु उससे संवर, निर्जरा होती है। इसे भी स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि व्रत, समिति आदि को कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनंदि पंचविंशतिका, बोध पाहुड, धवला आदि ग्रंथमें भी संवरतत्त्व और धर्म कहा है। तथा धवला पु. १ पृ. ९ में अरहंत नमस्कारको असंख्यातगुणी निर्जराका कारण कहा है। तथा "भावसंग्रह" में पूजा व्रतादिको मोक्षका कारण कहा है। तथा पुण्यको मोक्षका कारण बताया है। 'परमात्मप्रकाश' में इसे मोक्षका कारण कहा है अतः पुण्यबंध संसारका कारण कहना अनुचित है।

प्रतिशंकाके समाधानमें उत्तर पक्षके २० प्रमाणोंका विश्लेषण करते हुए पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक २१२-२१३-२१४ का प्रमाण उपस्थित किया कि सम्यग्दर्शनादिसे निर्जरा होती है, और रागसे बंध होता है। समयसार गाथा १४० में भी कहा है कि रागसे बंध होता है, और वीतरागतासे निर्जरा होती है। अतः जीवदया राग रूप होने से पुण्य बंधका कारण है, उससे निर्जरा नहीं होती है। शुभरागका अन्तर्भाव कर्मचेतना में होता है, और यह कर्मचेतना सम्यग्दृष्टि धर्मात्माके होती नहीं। उसके सिर्फ ज्ञान चेतना होती है। अतः दयाभाव शुभराग रूप तो है, वीतराग धर्म नहीं है।

प्रतिशंका ३—इस उत्तरके पश्चात् पूर्व पक्ष ने पुनः अपनी प्रतिशंका रखते हुए कहा—कि परमात्माप्रकाशमें शुभ परिणामको धर्म बतलाया है, उसे आप लोग स्वीकार क्यों नहीं करते? आप आर्ष प्रमाणोंको

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार न करके अतिसाहस कर रहे हैं। बोधपाहुड गा० २५ में दया से धर्म तथा धवला पु. १३ पृ. ३६२ में करुणाको जीवका स्वभाव कहा है "भावसंग्रह" ४०४ में स्वीकार किया है कि सम्यग्दृष्टिका पुण्य, बंधका कारण नहीं है, नियमसे मोक्षका कारण है। सम्यक्दृष्टिसे लेकर सातवें गुणस्थान तक मिश्रित शुभभाव हैं, उससे आस्रव, बंध और संवर, निर्जरा भी होती हैं! सातवें तक शुद्धोपयोग तो होता ही नहीं है, वहां निर्जरा होती है। सम्यक्त्व के सम्मुख वाले जीवके भी शुभ परिणामसे असंख्यातगुणी निर्जरा स्थितिकाण्डक अनुभाग-काण्डक करते ही हैं। का० अनु० में दयामय धर्म कहा है। नियमसार गाथा ६ में भी दयामय धर्म बतलाया है। इस प्रकार आत्मानुशासन, यशस्तिलक, मूलाचार, भावपाहुड, शीलपाहुड, मूलाराधना आदि ग्रन्थोंमें दयाको धर्म कहा है।

पाँच पापोंके त्यागको सम्यग्चारित्र कहा है तथा सम्यग्चारित्र साक्षात् मोक्षका कारण है। जहां भी व्रतोंको छोड़नेका उपदेश दिया गया है, वहाँ मात्र व्रतोंमें रहने वाले रागांशको छोड़नेका उपदेश है, न कि व्रतोंको छोड़ने का। व्रत तो बारहवें गुणस्थान तक पाये जाते हैं।

प्रतिशंका ३ का समाधान

जीवदयामें स्वदया और परदया गर्भित है। किन्तु मूल प्रश्न परदयाको ध्यान में रखकर ही किया गया है। परदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। उत्तर पक्ष ने दयाको धर्म माननेके जो लगभग २० प्रमाण दिये हैं, ऐसे और भी हजारों प्रमाण मिल सकते हैं। किन्त जितने भी रागरूप परिणाम हैं, वे कभी भी मोक्षके कारण नहीं हो सकते हैं। परदया रूप भाव रागरूप ही हैं अतः वे मोक्षके कारण कदापि नहीं हो सकते हैं। परमात्मप्रकाश गाथा ७१ में भावोंके ३ भेद किये हैं—धर्म-अधर्म और शुद्ध। यहाँ शुभ भावको ही धर्म कहा गया है। अतः शुभभावको धर्म उपचारसे कहा गया है। परदयाके भाव गृहस्थ मुनि सबको आता है। जीवदया धर्म है, इसके लिए जो अनेक प्रमाण दिये गये हैं, उसमें किस नयका यह कथन है, उस पर ध्यान न देकर व्यवहार धर्मको निश्चयधर्म मानकर अपनी बात सिद्ध करना चाहता है। किन्तु प्रवचनसार गाथा ११ में स्पष्ट कहा है कि शुद्धोपयोगसे जीव मोक्षसुख और शुभोपयोगसे स्वर्ग सुख पाता है। इस गाथा ने आगम वाक्यका रहस्य खोलकर रख दिया है। अतः शुभ भाव और शुद्धभावों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है इससे यह निर्णय हो जाना चाहिए कि स्वदया वीतराग भाव रूप है, और परदया शुभभाव रूप है।

पंचास्तिकाय गाथा १४७ में कहा है, जब विकारी आत्मा शुभ, अशुभ भाव करता है, तो वह नाना प्रकारके कर्मों से बद्ध होता है। अतः शुभभावों से कर्मबंध होता है, यह बिल्लकुल स्पष्ट हो जाता है। प्रवचन-सार गाथा १८१ में भी शुभ परिणाम पुण्य है तत्त्वार्थसार श्लोक २५-२६ में दयाको शुभास्रव बताया है। बोध प्राभृतके 'धम्मो दया विशुद्धो'का अर्थ स्वदयारूप वीतरागभाव है जो कि निर्जराका कारण है। धवला पुस्तक १३ में भी 'करुणाए जीवसहावस्स' करुणा ही जीव स्वभाव है, इसका अर्थ भी स्वदया है। भाव संग्रहकी गाथा 'सम्माइट्ठी पुण्णं....' में सम्यग्दृष्टिका पुण्य बंध कारण नहीं है, उस व्यवहार कथनका आशय इतना है कि सम्यग्दृष्टि अल्पकालमें मुक्ति प्राप्त करेगा। उसका पुण्य अनंत संसारका कारण नहीं है।

इस सबका सार इतना ही है कि दया शब्दका व्यवहार दो अर्थों में किया जाता है—एक स्वदयाके रूपमें, जो निर्जरा का कारण है और दूसरा परदयाके रूपमें, जो पुण्यबंधका कारण है। समयसार कलश १०७ में कहा है—कर्मस्वभावसे वर्तना ज्ञानका होना नहीं है, इसलिए शुभभाव मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल स्वभाववाला है अतः आगममें रागांश बंधका कारण और रत्नत्रयांश संवर निर्जराका कारण है—यह स्पष्ट हो जाता है। राग और ज्ञानको भिन्न करना यही भेदज्ञानका फल है। सूर्योदयसे पूर्व प्रकाश और अंधकार मिले हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु दोनों का स्वभाव अत्यन्त भिन्न है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम पक्षने भोजन और काढ़ेका एवं मिश्र गुणस्थानका उदाहरण दिया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है, कि मिले हुए पदार्थ एक ही कार्य करते हैं। भोजन या काढ़ेमें जिन द्रव्योंका सम्मिश्रण है, वे सब अपना अपना कार्य करते हैं—तथा मिश्र गुणस्थान सर्वघाति प्रकृति होने से वह विभाव भाव है। वेदक सम्यक्त्व स्वभाव-भाव है, अतः मिश्रकी तुलना वेदक सम्यक्त्वसे नहीं की जा सकती है। चौथे गुणस्थानमें आंशिक शुद्धोपयोग होता है, वह निर्जराका कारण और जो रागांश शेष है, वह बंधका कारण होता है।

पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें कहा है—शुभ अशुभ भावका निरोध करना संवर है। अतः शुभभाव संवरका विरोधी है, उससे संवर-निर्जरा कैसे हो सकती है। प्रवचनसार गाथा ८५ में मनुष्य तिर्यंचोंमें अज्ञानतापूर्वक करुणाको मोहका लक्षण कहा है। पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका में करुणाको मनः खेद कहा है।

प्रथम पक्ष ने सम्यग्दृष्टिके शुभभावोंको वीतरागता और मोक्षका हेतु कुछ शास्त्रीय प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहा है और सम्यग्दृष्टिका शुभभाव कर्मचेतना न होकर ज्ञानचेतना माना गया है, जबकि कर्म-चेतनाका लक्षण है—ज्ञान से भिन्न अन्य भावोंको मैं करता हूँ—यह कर्मचेतना है।' इस लक्षण से शुभभावों का ज्ञान चेतना में कैसे अंतर्भाव हो सकता है? क्योंकि शुभभावको विभाव भाव आगममें कहा है।

"तत्त्वार्थसूत्र" में व्रतोंको आस्रव तत्त्वमें स्वीकार किया है। अतः शुभ भावरूप जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है, क्योंकि शुभभाव आस्रव तत्त्व है और उसको संवर निर्जरा तत्त्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

शंका नं० ४

शंका—व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं?

समाधान—उत्तर पक्षने उसका समाधान करते हुए बतलाया कि निश्चय धर्म पर निरपेक्ष होता है और व्यवहार धर्म पर सापेक्ष होता है, अतः यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाये, तो व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक कैसे हो सकता है। क्योंकि विभाव पर्याय स्वपर सापेक्ष होती है और स्वभाव पर्याय पर निरपेक्ष होती है। ऐसा ही नियमसार गाथा १३-१४ और २८ में कहा है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मके साथ रहता है। इससे उसको सहचर होनेसे निमित्त मात्र कहा है; साधक नहीं है।

प्रतिशंका—इस समाधानके बाद प्रथम पक्षने पुनः प्रतिशंका करते हुए बतलाया कि जब स्वभाव पर्याय पर निरपेक्ष है, तो विभाव धर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है? क्योंकि दोनों ही आत्माके धर्म हैं। पंचास्तिकाय गा० १५९ की टीकामें निश्चय व्यवहारको साध्य-साधन स्वर्ण और स्वर्ण पाषाणकी तरह माना है। इसीकी गा० १७२में भी कहा है कि 'जीव प्रथम व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करता है। जैसे धोबी मलिन वस्त्र-को भिन्न साध्य-साधन शिलाके ऊपर साबुन आदिके द्वारा वस्त्रको स्वच्छ करते हैं। पश्चात् निश्चयनयकी मुख्यतासे रत्नत्रयमें सावधान होकर अंतरमें बैठते हैं।

इसी ग्रन्थकी गा० १०५-१६०-१६१ में जयसेनाचार्यने व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चय मोक्षमार्गका साधन कहा है। प्रवचनसार गा० २०२में पंचाचारसे शुद्धात्माकी प्राप्ति कही है। परमात्मप्रकाश, श्लोक ७ और द्रव्यसंग्रहमें भी साध्य-साधक भाव इन दोनोंमें बतलाया है।

आपने व्यवहार धर्मको सहचर होनेसे निमित्त मात्र बतलाया है, किन्तु पदार्थमें सहचर भाव तो बहुतसे विद्यमान रहते हैं; फिर भी उनको साध्य-साधक भाव नहीं माना जाता है। अतः व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक माननेमें कोई हानि नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधान—नयचक्र आ० ७७में कहा है—व्यवहारसे बंध होता है और स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष होता है, इसलिए स्वभावकी आराधना कालमें व्यवहारको गौण करो। प्रथम पक्षने प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, परमात्मप्रकाश द्रव्य-संग्रहके अनेक प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है, किन्तु यह कथन असद्भूत व्यवहारसे किया गया है।

पं० प्रवर टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है—सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्य पना करि कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका कारण भी कहिए है। पृ० ३७७ दिल्ली सं० बृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय टीकामें जो व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मका परंपरासे साधक कहा है, सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है। वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही प्रकारका है, उसका कथन दो प्रकारका है। जहाँ निश्चय मोक्ष मार्ग होता है, उसके साथ मंदराग, रूप व्यवहार धर्मको भी मोक्षमार्ग आगममें कहा है। मो० मा० प्र० पृ० ३ ५-६६ में भी कहा है—निरूपण अपेक्षा दोय मोक्षमार्ग जानना एक निश्चय मोक्षमार्ग एक व्यवहार मोक्ष-मार्ग है। ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय माने हैं सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोध लिए है? प्रवचनसारमें कहा है—वीतराग भावसे मोक्ष प्राप्त होता है और सराग भावसे देवादि पर्यायके वैभव क्लेश रूप बंधकी प्राप्ति होती है।

प्रतिशंका २—आपने जितने प्रमाण दिये हैं उनका मूल प्रश्नसे कोई संबंध नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय-को व्यवहारनयका विषय बताया है। क्या बिना व्यवहारके निश्चय रत्नत्रय प्राप्त हो सकता है? जबकि भेद रत्नत्रयको व्यवहार कहा है और अभेद रत्नत्रयको निश्चय कहा है। द्रव्यसंग्रह १३वीं गाथाकी टीकामें कहा है जो निश्चयको साध्य-साधक भावसे नहीं मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। नियमसार गाथा ५१ से ५५ रत्न-त्रयका वर्णन करते हुए कहा है कि व्यवहारनयके चारित्रमें व्यवहार तप होता है और निश्चय चारित्रमें निश्चय तप होता है। इसीकी टीकामें कहा है—भेदोपचार रत्नत्रय भी आत्मसिद्धिके लिए परंपरा कारण है।

आगममें देवशास्त्र गुरुके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। क्या यह श्रद्धा मात्र रागरूप है? पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लोक २२ में कहा है—निश्चय व्यवहार रत्नत्रय-परमात्मपद प्राप्त कराता है। इसी तरह पंचास्तिकाय, छहढाला, भावपाहुड, द्रव्यसंग्रह, परमात्म प्रकाशमें व्यवहार रत्नत्रयको निश्चयका कारण कहा है। समयसार गाथा १२ में भी कहा है—साधक अवस्था वाले जीव व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। निश्चय तो साध्य है और बाह्याचार रूप व्यवहार सर्वत्र उसका साधन बतलाया गया है। समयसारमें भी अधः-कर्म और औद्देशिकका निमित्त भूत आहारादि हैं, उसके त्यागके बिना द्रव्य प्रतिक्रमण नहीं होता और द्रव्य प्रति-क्रमणके बिना भाव प्रतिक्रमण नहीं होता है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अतः व्यवहार निश्चयका कारण है, यह बात सिद्ध होती है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—निश्चय रत्नत्रय स्वभावभाव है और निश्चयका सहचर होनेसे व्यवहार रत्नत्रय साधक तो नहीं हैं, निमित्तमात्र है। असद्भूत व्यवहारनयसे आगममें उसे साधक कहा है। यहां साधक-का अर्थ निमित्त मात्र है। बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ की टीकामें कहा है—जो पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका बाह्य त्याग है, वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे चारित्र है। वह वास्तवमें आत्मका धर्म नहीं है। निश्चय और व्यवहार चतुर्थादि गुणस्थानमें एक साथ रहते हैं। आगममें उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे व्यवहार धर्मको निश्चयका साधन कहा है। यह दृष्टि हमेशा ध्यानमें रखेंगे, तो आगमके भावको समझ सकेंगे। सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है—यह निमित्त कथन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रागमात्र व्यवहार धर्म नहीं है, किन्तु निश्चयके साथ देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान, स्वाध्याय और व्रत-पालनको व्यवहार रत्नत्रय कहा जाता है। शुभमें प्रवृत्ति और अशुभसे निवृत्ति यह व्यवहार चारित्र है। बृहद्-द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ और पंचास्तिकाय गाथा १३६ मूलाचार गा० ७३-७४ पंचपरमेष्ठीकी भक्तिको शुभराग कहा है। व्यवहारका लक्षण है—जो जिस रूप न हो उसको उस रूप कहना व्यवहार है। जिसका आशय निकला कि वह वास्तवमें धर्म तो नहीं है, उपचारसे उसे धर्म कहा गया है। यदि निश्चय और व्यवहार दोनों ही धर्म हैं, तो फिर वे दो कहाँ रहे ? एक ही हुए।

धर्मकी पद्धतिका कथन तो यह है—'शुभमें न मगन होय न शुद्धता विसरनी।'

लक्ष्यमें आत्मप्राप्ति रूप धर्मको लेकर अशुभसे बचनेके लिए शुभ क्रिया होती है। आत्माके अवलंबनसे संवर निर्जरा मोक्ष होता है और परावलम्बनसे आस्रव-बंध होता है। शुभाशुभ परिणामके निरोधको भावसंवर कहा है। पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थोंके जितने भी प्रमाण दिये हैं, उन सबका आशय यही है।

"बृहद्द्रव्यसंग्रह" गाथा १३ में कहा है—व्यवहारनयको साध्यभूत निश्चयनयका उपचरित हेतु स्वीकार न कर उसे परमार्थ मानता है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है।

समयसार गाथा २७२में कहा है—उपचरित व्यवहारनयसे जो कुछ कहा जाता है, वस्तु वैसी न होनेसे यह निश्चयनयकी दृष्टिमें सर्वथा हेय है। प्रथम पक्षने "पुरुषार्थसिद्धयुपाय", "पञ्चास्तिकाय" और "छहढालाके जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे सब इसी श्रेणीमें आते हैं। पद्मनंदि पञ्चविंशतिका ७१|१६ का यह श्लोक महत्त्वपूर्ण है—सविकल्प अवस्थामें प्रमाण-नय-निक्षेप सब हैं। केवल निर्विकल्प अवस्थामें एक चेतन ही अनुभवमें आता है। यही आशय समयसार गाथा १२ का है।

जहाँ निश्चयनयका विषयभूत आत्मज्ञानका आश्रय नहीं है, वहाँ किसी भी प्रकारका व्यवहार ही नहीं है; क्योंकि 'मूलो नास्ति कुतोः शाखा।' जब निश्चय नहीं, तो व्यवहार किसका नाम है ? अज्ञानी जीवको कोई नय होता ही नहीं है। प्रथम पक्षने निश्चयधर्मको लक्ष्य बताया है, किन्तु ऐसा नहीं है। वीतराग परणतिका नाम ही निश्चय धर्म है। लक्ष्यका नाम ही निश्चय नहीं है। प्रथम पक्षका यह लिखना उचित नहीं कि चौथे पाँचवें और छठवें गुणस्थानमें बाह्य पुरुषार्थ ही होता है, किन्तु इन गुणस्थानोंमें भी आत्मसाधनाके साथ बाह्य आचरण हेय बुद्धिसे चलता है। मूलाचारमें कहा है—बाह्य क्रिया करते हुए भी मुनिके जीवनमें निश्चय धर्म गौण नहीं हो सकता है। अधःकर्म और औद्देशिकके निमित्तोंके त्यागका प्रयोजन निमित्त-नैमित्तिकका ज्ञान कराना है। अर्थात् जब राग छूट जाता है तो रागके साधन भी छूटते चले जाते हैं। इस प्रकार व्यवहारनय निश्चयका साधक है, यह असद्भूत व्यवहार नयका कथन है।

शंका ५—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे होती हैं या अनियतक्रमसे भी ?

समाधान—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३२१-२२-२३ में कहा है—जीवका जन्म अथवा मरण जिस देश, जिस काल, जिस विधिसे होना है—उसी प्रकार होकर रहता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने जाना है। उसे बदलनेके लिए इन्द्र अहमिन्द्र और जिनेन्द्र भगवान् भी समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, जो शंका करता है, वह कुदृष्टि है।

अतः इस आर्ष वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। इसी ग्रन्थमें गाथा २३०में कहा है कि पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण जब होता है तब उत्तर पर्याय कार्य रूप प्रगट होती हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७१में इसी प्रकार कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिशंका २. इन गाथाओंका भाव तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको बताता है कि जन्म-मरण कर्माधीन है, उसे कोई नहीं बदल सकता है। इससे पूर्व गाथा ३११ से ३२० तक कुदेवोंके प्रति भक्तिभावके प्रति अरुचि पैदा करनेके लिए लिखा है कि कोई देवी देवता न तो धन देता है और न उपकार, अपकार करता है। यदि ये धन देने लगें, तो फिर पुण्य क्यों किया जावे? इनमें सबसे प्रथम यह कहा है कि सम्यग्दृष्टि तत्त्वोंका अनेकान्त रूपसे श्रद्धान करता है। इस विचारको दृढ़ करनेके लिए उक्त तीन गाथाएँ कही हैं। गाथा २१९ में कहा है—पदार्थ नानाशक्ति युक्त है, किन्तु वह उसी रूपमें उत्पन्न होता है, जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्रादि निमित्त कारण जैसे मिल जाते हैं। इसी प्रकार गाथा २२३ की टीकामें कहा है।

यदि परणति नियत समयपर होती है, तो फिर कभी अविपाक निर्जरा नहीं हो सकती है, जिससे मोक्षका अभाव हो जायगा। इस नियतवादको पंचसंग्रह, गोम्मटसारमें मिथ्यात्व कहा है। तत्त्वार्थ सूत्रमें बाह्य निमित्त कारण मिलनेपर अकाल मृत्यु बतलाई है। तथा अकालमें दिव्यध्वनि खिरना, अनियतकालमें निर्जरा होना, संसारी जीवकी अनियत गुणपर्याय, क्रम-अक्रम परिणमन, द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय आदिसे पता चलता है कि पर्याय अनियत भी होती है।

कोई भी कार्य उपादान और निमित्तके बिना उत्पन्न नहीं होता है। स्वपर प्रत्यय पर्याय निमित्त कारणके व्यापारके अनुकूल होती है और निमित्तका व्यापार नियत हो, ऐसा एकान्त नहीं है। जैसे आम धूप, छाया आदिके निमित्तसे शीघ्र देरसे पकते हैं।

केवलज्ञानमें भी पर्यायें अनियत और नियत रूपसे झलकती हैं। केवलज्ञान ज्ञापक है; कारक नहीं। इसी प्रकार क्रम-अक्रमके विषयमें एकान्त नहीं, अनेकान्त है। अमृतचन्द्राचार्यने भी कालनय, अकालनयका उल्लेख किया है। अतः पर्यायें क्रम और अक्रमसे दोनों तरहकी होती हैं।

प्रतिशंका २ का समाधान—इसका निश्चय और व्यवहारसे समाधान करते हुए द्वितीय पक्षने काव्य अनुवाद गाथा ३२३ के भावको समझाते हुए लिखा है स्वामी कार्तिकेयने निश्चयसे ऐसा जो मानता है, यह कथन सिद्ध करता है जो यथार्थमें ऐसा मानता है वह निश्चयसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप है और द्रव्यकी सब पर्यायें कहनेसे शुद्ध अथवा अशुद्ध पर्यायें परकृत नहीं, स्वकृत हैं, और वे सब नियतक्रमसे होती हैं। 'समयसार'में कहा है जो ऐसा मानता है कि मैं किसीको सुखी-दुखी करता हूँ या जीवन मरण देता हूँ, वह अज्ञानी है। अतः अशुद्ध पर्याय भी अपने समयपर होती है।

(१) निर्जरा, उत्कर्षण, अपकर्षण आदिके लिए यह सिद्धान्त है कि बन्धकालमें जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, उस कालमें ही उन कर्मोंकी ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियतकाल आनेपर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मोंका निमित्त कर उन-उन कर्मोंका अपकर्षणादि रूप परिणमन होता है। ऐसा न माननेपर कर्मशास्त्रकी सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जायगी और उपशमकरण, निधत्तिकरण, निकाचितकरणकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी।

(२) निमित्त उपादानकी उपस्थितिमें कार्यकी उत्पत्ति होती है, किन्तु निमित्त उपादानका कुछ भी कार्य नहीं करता है। क्योंकि दो द्रव्योंकी एक परणति नहीं होती, यह सिद्धान्त है। तथा एक द्रव्यकी स्व रूप और पररूप परिणति होती हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि कर्ता-कर्म-क्रिया भाव निश्चयसे एक द्रव्यमें ही घटित होता है। दो पदार्थोंमें कर्ता-कर्म-क्रियाका सम्बन्ध व्यवहारसे कहा जाता है; होता नहीं।

(३) भगवान्‌की वाणी अकालमें भी खिरती है, इसका उत्तर जयधवला पृ० ७६ में कहा है। दिव्य-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्वनि जब भी खिरती है, वह उसका स्वकाल है—अर्थात् पर्याय अपने समयपर ही प्रगट होता है; अनियत-कालमें नहीं होती है।

(४) गुण, पर्यायको नियत और अनियत कहा है। वहाँ अपने स्वभावरूप संसारी जीव परिणमन नहीं करता है, उसे अनियत गुण, पर्याय वाला कहा है।

(५) प्राग्भावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावपर निर्भर है—इसका अर्थ है कि द्रव्यका स्वकाल आदि आनेपर, परचतुष्टय निमित्त रूप होता है। किन्तु वह कार्यका जनक नहीं है।

(६) यद्यपि कार्य निमित्त-उपादानके सुयोग मिलनेपर होता है, किन्तु कार्योत्पत्ति समर्थ उपादानसे होती है। निमित्त उस समयपर उपस्थित अवश्य है, किन्तु वह नियामक कारण नहीं है। अतः कार्य अपने नियत समयपर ही होता है।

प्रतिशंका ३—केवलज्ञानकी अपेक्षा पर्यायोंका परिणमन क्रमबद्ध मानकर भी कार्य-कारणकी अपेक्षा उसकी सिद्धि करना चाहिए। अतः यह विचारणीय है कि वह कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे जिस कालमें होता है, उसे ही कार्यका प्रधान कारण माना जाये? अथवा कार्य जब होता है, तो अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होता है और जिस कालमें वह उत्पन्न होता है, वही उसका स्वकाल है। इसलिए कार्यके लिए अन्तरंग और बहिरंग दोनों कारण मानना चाहिए।

इसलिए विवक्षित कार्यके अनुरूप उपादान कारणके होते हुए भी यदि अन्य कारणोंकी अविकलता न होगी, तो कार्य सम्पन्न नहीं होगा। यदि सहकारी कारण अकिंचित्कर हो तो उसका नाम सहकारी कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि जीव और पुद्गलोंके परिणमन स्वपर प्रत्यय ही माने गये हैं। वस्तुके परिणमनमें विलक्षणताका नियामक निमित्त कारण ही है।

निर्जरा या संक्रमण आदिके लिए शास्त्रमें ऐसा कोई नियम नहीं है कि कर्मोंके बन्धके समय ही उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है कि वे अमुक समयपर ही निर्जरित होंगे। हाँ यह बात अवश्य है कि बन्धके समय कुछ प्रदेशोंका उपशम, निधत्ति, निकाचित रूप बन्ध होना सम्भव है। किन्तु कारण-कलाप पाकर वह टूट भी जाता है। आपने स्वकाल शब्दका प्रयोग किया है, किन्तु अमृतचन्द्राचार्यने ४७ शक्तियोंमें अकाल नय भी बतलाया है और पण्डित टोडरमलजीने कहा है—काललब्धि और नियति कोई वस्तु हो नहीं है। भगवान्‌की दिव्यध्वनि भी निमित्त पाकर अनियत समयमें भी खिरने लगती है। कर्म निर्जरा विपाक, और मुक्तिका भी कोई नियत समय नहीं है।

शंका ५ प्रतिशंका ३ का समाधान—केवलज्ञानमें सब पदार्थोंकी पर्यायें झलकती हैं, अतः इससे पदार्थोंका परिणमन सुनिश्चित तो है ही। तथा 'अष्टसहस्री' में यह भी कहा गया है कि जैसी भवितव्यता होती है, वैसे ही सब कारण मिल जाते हैं। अलंघ्यशक्तिका अर्थ यह स्पष्ट किया है कि कार्य द्रव्य स्वभावको लांघकर कभी नहीं होता है। निश्चयसे कार्यकारण-व्यवस्था एक द्रव्यमें ही घटित होती है। अन्य द्रव्यके संयोगसे कार्य-कारण कहना व्यवहार कथन है। निमित्त कथनको यथार्थ कथन मानना दो द्रव्योंकी एकताको स्वीकार करना है जोकि असम्भव है।

निर्जरा और मुक्तिका काल सुनिश्चित है, उपादान और निमित्तकी आगममें समव्याप्ति कही है। अतः समर्थ उपादानकी उपस्थितिमें अन्य निमित्त कारणकी उपस्थिति बन जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँचवीं शंकामें तीसरी प्रतिशंका उठाकर प्रथम पक्षने कहा पर्यायका स्वकाल आनेपर कार्य होता, ऐसा मानकर स्वकालको प्रधानता देते हैं। हम उपादान और निमित्त दोनों कारणोंको प्रधान कहते हैं। अशुद्ध पर्यायें स्वपरप्रत्यय आगममें कही है। तब आप परप्रत्ययको गौण क्यों कर देते हैं ? अष्टसहस्री पृ० १०५ में यदि सहकारी कारण अकिंचित्कर हो तो उसका कारण नाम नहीं पड़ सकता है। अतः जबतक निमित्त तदनुकूल व्यापार नहीं करता, तबतक उस उपादानकी विवक्षित कार्यरूप परणति नहीं होती है। अतः कार्यको निमित्ताधीन भी कहा जाये, तो कार्य अपने समयपर ही होता है, यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता है। इस प्रतिशंका ३ का समाधान करते हुए द्वितीय पक्षने उत्तर दिया कि केवलज्ञान वस्तुस्वरूपका ज्ञापक है; कारक नहीं। कारकसाकल्यमें पाँच समवाय स्वीकृत किये गये हैं। निश्चयनयसे आचार्योंने कहा है—पर्याय स्वयं अपनी कर्ता स्वयं अपना कर्म और स्वयं अपना कार्य है। अतः कर्ता-कर्म-क्रियाके स्वतःसिद्ध होनेपर अन्य सहकारी कारण होते हैं, किन्तु कार्योत्पत्ति सहज स्वभावसे ही होती है। अतः पर्याय अपने क्रमसे अपने समयपर प्रकट होती है। क्योंकि पर्याय वस्तुका अपना सहज धर्म है। यह मोतीमालाकी तरह क्रमसे प्रकट होती रहती है। श्रुतज्ञान उन सब पर्यायोंको नहीं जानता है। इससे पर्यायें अनियत कैसे हो गईं ? केवलज्ञानमें प्रकट होनेवाला पर्यायक्रम यथार्थ प्रतिभासित हो रहा है तब केवलज्ञानमें ज्ञात पर्यायोंका अक्रम, माना जाये, तो केवलज्ञान अप्रामाणिक हो जायगा। और केवलज्ञानमें ज्ञात क्रमसे ही पर्यायें होती हैं, तो क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध ही है।

इसमें पुरुषार्थहीनता भी नहीं, क्योंकि सिद्धोंकी तरह पदार्थका मात्र ज्ञाता बन जाना सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। मन, वचन, कायको रोकनेमें सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। नियतनय और अनियत नयका अर्थ है गुण हमेशा अनादि अनंत, शाश्वत हैं। पर्याय क्रमशः आती है। यहाँ अस्थिर होनेको अनियत कहा है।

जो पांच समवायमेंसे सिर्फ नियतिसे कार्यसिद्धि मानते हैं, उनको गोम्मटसार नियतिवादी मिथ्यादृष्टि कहा है। क्योंकि कार्य पांचों समवायकी उपस्थितिमें होता है। अतः पर्यायें नियतक्रम मानना आगमसम्मत है।

खानियाँ तत्त्वचर्चा दूसरा भाग

शंका ६—उपादानकी कार्यरूप परणतिमें निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

समाधान—निमित्तकारणको आगममें व्यवहार कारण कहा है, वह निश्चय (वास्तविक) कारण नहीं है।

प्रतिशंका—अन्तरंग कारणका अर्थ द्रव्य शक्तिसे है और बहिरंग कारणका मतलब बलाधानमें सहायक होना है। जैसे मिट्टीमें घड़े बननेकी शक्ति है, किन्तु कुम्हारकी सहायताके बिना घटका उत्पाद असम्भव है। दोनों कारण मिलनेपर कार्य होता है ? इसका सीधा मतलब है कि कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों कारण सहायक हैं; अन्यथा उनमें कारण व्यपदेश करना व्यर्थ ठहरता है। कारण कहते उसे हैं—जिससे कार्यकी उत्पत्ति हो।

जैसे—जीवका राग कर्मबन्ध कराता है और कर्मोदयसे रागोत्पत्ति होती है। समयसारमें भी जीवका विकार हेतु अजीव पुद्गल है, ऐसा गाथा १३ की टीकामें कहा है।

प्रतिशंका २ का समाधान—उभय हेतुसे कार्य होता है और उसमें यह माना जावे कि निमित्तके अनुसार कार्य होता है, तो अन्तरंग कारण उपादानका कार्य रह जाता है ? प्रथमपक्षके अनुसार व्यवहारकारण समर्थ कारण हुआ और अन्तरंग निश्चयकारण अकिंचित्कर सिद्ध होता है। आगममें सहकारी कारण सापेक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशिष्ट पर्यायशक्तिसे युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी मानी गई है। क्योंकि पर्याय द्रव्यमेंसे प्रकट होती है; न बाहरसे आती है और न निकलकर बाहर जाती है। परकर्तृत्वको अध्यात्ममें मिथ्यात्वका महापाप माना है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं; जैसी भवितव्यता होती है वैसे सब कारण मिल जाते हैं। अतः कार्य उपादानके सामर्थ्यके अनुसार होता है। यदि निमित्ताधीन कार्य हो, तो पुरुषार्थका कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता है।

प्रतिशंका ३—आप निमित्तकारणको व्यवहारकारण मानकर निमित्तकी उपस्थिति मात्र मानते हैं, और अकिंचित्कर कहकर उसकी कुछ उपयोगिता नहीं मानते हैं। कार्यको स्वपर सापेक्ष आगमवाक्यकी अवहेलना करना क्या उपयुक्त है। क्या गेहूँकी पैदावारमें किसान अकिंचित्कर है और यदि अकिंचित्कर है, तो आवश्यकता ही क्या रह जाती है। फिर किसानके बिना परिश्रमके गेहूंकी उत्पत्ति हो जाना चाहिए जो कि सर्वथा असंभव है। अकेले निमित्तसे कार्य होता है, ऐसा हम भी नहीं मानते हैं किन्तु उसके बिना कार्य भी तो नहीं होता, अतः वह आवश्यक और अनिवार्य कारण है। उसके अभावमें अथवा प्रतिकूल कारणोंके मिलने पर उपादानके रहते हुए कार्य नहीं होता है। उपादानमें अनंत शक्तियां हैं, उनमेंसे जिस शक्तिके अनुरूप निमित्त मिल जाते हैं, उस शक्तिका बिकास हो जाता है।

प्रतिशंका ३ का समाधान—निश्चयनय कार्यकारण एक ही द्रव्यमें घटित होते हैं। व्यवहारनय घी का घड़ा कहता है, किन्तु घड़ा घी का नहीं होता है। इसी तरह अनुकूल निमित्तकी उपस्थितिमें कार्य होता है, किन्तु कार्य उपादान शक्तिसे ही होता है। उपचरित असद्भूत व्यवहारसे निमित्तको कर्ता कहा जाता है। एक द्रव्यका दूसरे पर आरोप करना ही उपचार है। जब एक द्रव्य गुण, पर्याय दूसरे द्रव्य गुण पर्यायमें प्रवेश नहीं कर सकते, तब उनमें परिणमन कैसे करा सकता है? उपादान कारणके कार्य सन्मुख होनेपर बाह्य सामग्रीका विस्रसा या प्रयोगसे योग मिलना ही है। यदि निमित्तसे कार्य होने लगे, तो समवसरणमें सबको मुक्ति प्राप्त हो जाना चाहिये; जबकि तीर्थंकरकी उपस्थितिमें ही मारीच भ्रष्ट हो गया था। पर सापेक्षका अर्थ परकर्तृत्व न होकर धर्मद्रव्यकी तरह उदासीन निमित्त मात्र है। निमित्त नामकी कोई वस्तु नहीं है, किन्तु जिसकी अनुकूल उपस्थितिमें कार्य बनता है, उसका नाम निमित्त पड़ जाता है। एक प्रतिमा किसीको सम्यग्दर्शनमें निमित्त बनती है, धर्मविरोधीको द्वेषभावमें निमित्त बनती है और चोरोंको चोरी करनेमें निमित्त बन जाती है। क्यों इन तीनों कार्योंमें प्रतिमाका कर्तृत्व है।

शंका ७—केवली भगवान्की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? इस सभी शंकाओंके तीन-तीन दौर चले थे, उन सबका सार यहाँ विस्तार भयसे कहेंगे।

आत्मज्ञता और सर्वज्ञताका क्या रूप है? तथा ज्ञेयोंकी अपेक्षा आरोपित सर्वज्ञता सिद्ध हुई और यदि पर की अपेक्षा सर्वज्ञता है, तो वह असद्भूत व्यवहारनयका विषयभुत सर्वज्ञता है। क्योंकि स्वभावका अन्यत्र आरोप सो उपचार है। तथा अमूर्तिक आत्मामें मूर्तिक पदार्थ कैसे भूल सकता है। अतः यह भी बात नहीं बैठती कि पदार्थ स्वयं झलकते हैं अथवा ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है। क्योंकि अमूर्तिक द्रव्योंका आकार न होनेसे उनका आकार आत्मामें कैसे झलक सकता है?

शंका ७ का समाधान—यह निर्विवाद सत्य है कि आत्माका स्वभाव स्वपर प्रकाशक है तथा अतः जो स्वभाव होता है, वह पर निरपेक्ष होता है। आत्मज्ञतामें ही सर्वज्ञता भरी है। वीतरागी परमात्मा अपने उस ज्ञान स्वरूप आत्माको जान रहे हैं, जिसमें ज्ञेय भी प्रतिबिंबित हो रहे हैं। अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक, अमूर्तिक सभीको जानता है। क्षयोपशम ज्ञान भी मूर्तिक, अमूर्तिक पदार्थोंको जानता है। परज्ञानको व्यवहार इसलिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है कि अपनी तरह परको तन्मय होकर नहीं जानते हैं। परकी अपेक्षा आ जानेसे भी परज्ञानको व्यवहार कहा है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। स्व और परका भेद किया, यह सद्भूत व्यवहारनय है। ४७ शक्तियोंमें सर्वज्ञत्व शक्ति भी एक आत्मशक्ति है। वह असद्भूत व्यवहारनय विषय आत्मपदार्थ वस्तु नहीं है। अतः व्यवहारनयका विषय होनेसे सर्वज्ञता असत्य नहीं है।

शंका ८ – दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवलीकी आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौनसा सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्‌की आत्माके सम्बन्धसे?

आपके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हैं ऐसा कथन आगममें आता है तथा वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंकी प्रामाणिकता होती है। अर्थात् दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता केवलज्ञानीके आश्रित है; न कि स्वाश्रित। धवलमें भी कहा है—रागी, द्वेषी असत्य बोलता है, वीतरागी सत्य ही बोलता है। जिनेन्द्रका उपदेश द्रव्यश्रुत है, इत्यादि कथन आगममें भरा पड़ा है। अतः वचनों द्वारा पदार्थज्ञान पुरुष-व्यापारकी अपेक्षा रखता है।

शंका ८ का समाधान—दिव्यध्वनि और केवलज्ञानका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु उपादान-उपादेय सम्बन्ध नहीं है। दिव्यध्वनि वीतरागीकी खिरती है। अतः उसमें पुरुष प्रयत्न तो सम्भव ही नहीं है। वचन-वर्गणाका योग और भव्य जीवोंके भाग्यसे सहज ही वाणी खिरती है। आत्मा चेतन पदार्थ है और भाषा अचेतन पदार्थ है। अतः आत्मा वाणीका कर्ता कैसे हो सकता है? उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही पुरुष वाणीका कर्ता कहा जाता है। क्योंकि भिन्न दो द्रव्योंमें उपचारसे ही कर्तृत्वका कथन होता है। दिव्यध्वनिकी प्रामाणिकता अपने उपादानकी अपेक्षा स्वाश्रित है। निमित्तकी अपेक्षा पराश्रित कही गई है। सत्यभाषाका उपादान सत्यभाषा वर्गणा है। अनुभय भाषाका उपादान अनुभय भाषा वर्गणा है।

कार्यके प्रति निमित्त और उपादानकी समव्याप्ति होती है। दिव्यध्वनिको ज्ञानका कार्य कहना निमित्त कथन है। प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतंत्र होनेसे वाणी अपनी योग्यतासे अपने स्वकालमें स्वयं खिरती है। वाणी वैस्रसिक और प्रायोगिक दो रूपोंमें प्रयुक्त होती है। उसे प्रायोगिक कहना यह भी निमित्त कथन है। निमित्त प्रधान कथन तो होता है, किन्तु कार्य उपादानकी अपनी योग्यतासे होता है।

शंका ९—सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बँधा हुआ है और किसीसे बँधा हुआ होनेसे परतंत्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है, तो उसके बन्धनोंसे छूटनेका उपाय क्या है?

क्योंकि आगममें स्पष्ट कहा है—जब आत्मा मन वचन कायकी क्रिया करता है तब कर्मोंसे बँध ही जाता है। और इस बंधके कारण दर्शन, ज्ञान, चारित्र विकृत होकर मिथ्यात्व अज्ञान असंयम रूप प्रवृत्ति करते हैं। कर्मोंके अभावसे यह जीव मुक्त हो जाता है। अतः कर्मबद्ध होकर जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहा है और कर्मोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है। आगममें यह भी कहा है—जब कर्म बलवान होता है, तो जीव दुखी हो जाता है और जब जीव बलवान होता है तो सुखी हो जाता है। यह भी कहा गया है कि कर्म जीवको प्रेरित करता है और जीव कर्मको प्रेरित करता है। इसीलिए ज्ञानावरणी कर्म ज्ञानको रोकता है आदि आगम स्पष्ट कह रहा है कि जीव कर्मोंसे बँधा है। और कर्मोदयके कारण ही सुखी दुखी होकर संसार परिभ्रमण कर रहा है।

समाधान—अशुद्ध निश्चयनयसे जीव रागादि भावोंसे विकारी हैं। असद्भूत व्यवहारनयमें कर्मोंसे बद्ध कहा जाता है। यह सब उपचारसे पर्यायका कथन किया है। निश्चयनय या द्रव्य स्वभावसे तो जीव अबद्ध-अस्पष्ट अखण्ड एवं त्रिकाल शुद्ध है जैसा कि समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थोंमें कहा गया है। कर्म और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकारका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है, किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। विकार उत्पन्न, नाश होता है, अतः वह विकारी पर्याय है। द्रव्य स्वभावमें रागादिका भी प्रवेश नहीं, तब कर्मादिका प्रवेश तो असम्भव ही है। क्योंकि सभी द्रव्य अपने-अपने चतुष्टयको छोड़कर परद्रव्यमें प्रवेश नहीं करते हैं। अपने ही चतुष्टयमें रहते हैं।

कर्म विकार भी नहीं कराता है, जीव अपनी कमजोरीसे स्वयं कर्मादिके उदयानुसार पर पदार्थोंमें तन्मय होकर विकार करता है। कर्म घुमाता है, यह उपचार कथन है। यदि घुमाता हो तो कोई जीव संसारसे छूट ही नहीं सकता है। संसार भ्रमण और सुख-दुःखका मूल कारण तो अज्ञानता है। कहा भी है—
"मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये बहुविध पुण्य पाप।"

शंका १०—जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बंध वास्तविक है या अवास्तविक ? यदि अवास्तविक है, तो केवली उसे जानते हैं या नहीं ?

समाधान—प्रश्नोत्तर ९ की तरह जीव और पुद्गलका या स्कंधोंका व्यवहारसे बंध कहा जाता है। निश्चयदृष्टिसे प्रत्येक द्रव्य व प्रत्येक परमाणु अपने द्रव्य स्वभावको कभी नहीं छोड़ता है। अतः स्वतंत्र एवं अबंध स्वरूप ही है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य, एक गुण दूसरे गुण रूप परिणमन नहीं करता अतः द्रव्यस्वभाव अबंध स्वरूप ही है।

शंका ११—परिणमनमें स्वप्रत्यय और स्वपर प्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है ?

समाधान—समस्त द्रव्योंकी अगुरुलघु गुण षड्गुण हानि वृद्धि परिणमनस्वभाव पर्याय या स्वप्रत्यय है, पर निमित्त पूर्वक जो पर्याय होती है; वह स्वपर प्रत्यय परिणमन है। पर निमित्तकी उपस्थितिमें होनेवाली पर्यायको स्वपर प्रत्यय परिणमन कहते हैं। परिणमनको पर प्रत्यय कहना उपचार कथन है। क्योंकि अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना, असद्भूत व्यवहारनय या उपचार है।

शंका १२—कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी श्रद्धाके समान सुदेव, सुशास्त्र और सुगुरुकी श्रद्धा भी मिथ्यात्व है, क्या ऐसा मानना या कहना शास्त्रोक्त है ?

समाधान—कुगुरु आदि श्रद्धान गृहीत मिथ्यात्व है और सुगुरु आदि श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टिके सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा होती ही है।

शंका १३—पुण्यका फल जब अरहंत तक होना कहा गया है जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है; उसे सर्वातिशायी पुण्य बतलाया है। ऐसे पुण्यको हीनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

समाधान—उपदेश प्रयोजन और आवश्यक हितकी दृष्टिसे दिया जाता है। जहाँ मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिए सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करनेका उपदेश है, वहाँ सभी प्रकारके पुण्यको आस्रवमें ही गिनाया है। तथा आस्रवसे बंध और बंधसे संसार होता है, ऐसा जिनागममें कहा गया है। किन्तु नरकादि अधोगतिके कारण पापसे बचनेके लिए पुण्य करनेका उपदेश भी जिनागममें बहुलतासे दिया गया है। आस्रव तत्त्वको आस्रव स्वीकार करना, यही उपदेश तो दिया गया है। उसको संवर, निर्जरा तत्त्व या मोक्ष-मार्ग मत मानो, इसी मान्यताको छुड़ानेका नाम हेय है। पुण्य नहीं छुड़ाया है, उसको धर्म माननेकी गलत मान्यता छुड़ाई है। कोई भी पुण्य हो, वह आस्रव तत्त्व है। आस्रव तत्त्व राग भाव होनेसे उसे राग भाव ही मानो, वीतराग भाव मत मानो। तत्त्वनिर्णय करानेके लिए जिनागममें ऐसा ही उपदेश है। पुण्यको जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहीं मोक्षमार्ग या धर्म भी कहा गया है, यह उपचरित कथन ही है। निश्चयसे वह शुभरागभाव है। वीतराग भाव नहीं है। पुण्यपाप रहित भाव ही वीतरागभाव है।

शंका १४—पुण्य अपनी चरम सीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्धस्वभाव रूप परिणत होनेपर स्वतः छूट जाता है या उसको छुड़ानेके लिए किसी उपदेश या प्रयत्न की जरूरत होती है ?

समाधान—इसका समाधान भी १३वीं शंकाके समाधानमें दिया गया है कि पहले पुण्यकी गलत मान्यता छुड़ाई जाती है फिर जैसे-जैसे शुद्ध परणति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही पुण्य भाव छूटता जाता है।

शंका १५—जब अभाव चतुष्टय वस्तु स्वरूप है, त वे कार्य व कारण रूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातिया कर्मोका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ? तत्त्वार्थसूत्रमें चार घातियाके अभावसे केवलज्ञानकी प्राप्ति स्वीकार की गई है।

समाधान—अभाव चतुष्टयको जिनागममें भावान्तर स्वभाव स्वीकार किया गया है, किन्तु घातिया कर्मोके अभावसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, यह उपचार कथन है। कर्म पुद्गल हैं, उनके अभावसे चेतनको लाभ हो, ऐसा वस्तुका स्वभाव नहीं। हाँ अज्ञानके अभावसे पूर्णज्ञान प्रगट हुआ है, उस अज्ञानमें ज्ञानावरणी कर्म निमित्त थे, अतः निमित्तके अभावमें नैमित्तिक भावोंके अभावसे केवलज्ञान प्रकट हुआ है। पूर्वकी अज्ञान पर्यायका नाश, ज्ञानके पूर्ण विकास ये दोनों एक समयमें हुए हैं। यथार्थ बात यह है कि ज्ञानकी परिणति जैसे-जैसे स्वभावमें स्थिर होती जाती है, तैसे-तैसे ज्ञानका विकास होता हुआ वह पूर्णताको प्राप्त हुआ है। उसी समय अज्ञान भी क्रमशः नष्ट होकर पूर्ण विलयको प्राप्त हो जाता है। जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अन्धकार भाग जाता है, अन्धकार स्वतः नहीं भागता है, उस समय कर्म भी नाशको प्राप्त हो जाता है। केवलज्ञान अपने पुरुषार्थसे उत्पन्न हुआ है; न कि कर्मोकी कृपासे।

शंका १६—निश्चय और व्यवहार नयका स्वरूप क्या है ? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

समाधान—जैन शासनमें दो नयोंसे वस्तु स्वरूपका निर्णय किया जाता है। उसमें वस्तुका त्रिकाल स्वभाव क्या है इसका निर्णय निश्चयसे होता है तथा गुणभेद या विविध अवस्थाओंका निर्णय व्यवहार नयसे होता है। अतः ज्ञान दोनों नयोंका करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि निश्चयनयका ज्ञान नहीं होगा, तो व्यवहारनयकी विषयभूत शुद्धाशुद्ध पर्यायोंको ही अपना स्वरूप मानकर पर्यायबुद्धि जो कि अनादि कालसे लगी हुई है, उसीमें तन्मय होकर मिथ्यादृष्टि ही बना रहेगा और यदि व्यवहारनयकी विषयभूत अपनी वर्तमान पर्यायके अपराधका ज्ञान नहीं करेगा, तो फिर कभी अपराध दूर करनेका भी प्रयत्न नहीं करेगा। किन्तु व्यवहार नयकी विषयभूत वर्तमान पर्याय आत्माका असली स्वभाव नहीं है। एवं विकारका आश्रय करनेसे विकार नष्ट नहीं होता है, किन्तु विकार रहित आत्मस्वभावका श्रद्धान ज्ञान आचरण करनेसे विकार नष्ट होता है। अतः निश्चयनयका विषय त्रिकाली स्वभावको उपादेय कहा है। तथा व्यवहारका विषय गुणभेद या पर्यायभेद अनुभव अवस्थामें छूट जाता है, अतः व्यवहारनयको हेय कहा है। क्योंकि रागादि आत्माका स्वभाव नहीं है। अतः व्यवहार ज्ञान करने योग्य है, किन्तु आश्रय करने योग्य नहीं है। इसीसे उसे हेय कहा है। जहाँ भी निश्चय धर्म और व्यवहारधर्म इस प्रकार दो भेद किये हैं, वहाँ वीतरागताको निश्चयधर्म और उसके साथ चलने वाले शुभभावको व्यवहार धर्म कहा है। इनमेंसे यथार्थ धर्म तो वीतरागता ही है, सहचर होनेसे शुभरागको आरोपित धर्म कहा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका १७—उपचारका लक्षण क्या है? निमित्त कारण और व्यवहारनयमें यदि क्रमशः कारणता और नयत्वका उपचार है, तो इनमें उपचार लक्षण घटित कीजिए।

समाधान—परके संबंधसे जो व्यवहार किया जाता है उसे उपचार कहते हैं, जैसे मिट्टीके घड़ेको घी-का घड़ा कहना उपचार है। या जीवको वर्णादिवान कहना उपचार कथन है।

वस्तुके भिन्न कर्ता-कर्मादि बतलाना व्यवहार या उपचार है, किन्तु अभिन्न कर्ता-कर्म बतलाना निश्चय है। उपचारमें भी कारण शब्दका प्रयोग इसलिए किया है कि निमित्त और उपचारसे साथ कार्यकी बाह्य व्याप्ति है। निमित्तसे कथन होता है। कार्य निमित्तकी उपस्थितिमें उपादानसे होता है। जैसे सम्पत्ति आदिकी प्राप्ति अपने भाग्यसे होती है, उसमें सहयोगी निमित्त बन जाते हैं। अतः व्यवहार इसलिए अभूतार्थ कहा जाता कि जैसा वह कहता है, वस्तुका वह असली स्वरूप नहीं है और निश्चय इसलिए भूतार्थ कहा जाता है क्योंकि उसका विषय ही वस्तुका असली स्वरूप है।

इस प्रकार खानिया चर्चाके अध्ययन-मननसे ज्ञात होता है, जितने भी कुछ तथ्य विवादास्पद बना दिये गये। यदि मध्यस्थ होकर शान्तिसे उनका निर्णय करें तो सभी विवाद सुलझ सकते हैं। पूज्य आचार्य श्री शिवसागर महाराजने इसीलिए इस तत्वचर्चाके आयोजन करनेकी प्रेरणा दी थी। इस तत्वचर्चामें आदर-णीय पण्डित फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीकी चारों अनुयोगोंके अधिकार पूर्ण विद्वत्ताका परिचय मिल जाता है। ऐसे विद्वान् कम ही देखनेको मिलते हैं, जिनका चारों अनुयोगोंका इतना सुलझा हुआ सुस्पष्ट अगाध ज्ञान हो। तत्त्वज्ञानका यथार्थज्ञान प्राप्त करनेके लिए जिज्ञासु बंधुओंको खानिया तत्त्वचर्चाका अध्ययन-मनन अवश्य ही करना चाहिए।

●

लब्धिसार-क्षपणासार : एक अनुशीलन

पं० नरेन्द्रकुमार भिसीकर, शोलापुर

चार अनुयोगोंके रूपमें उपलब्ध जिनागममें आत्म-तत्त्व और उसकी विशुद्धिका ही मुख्यता से वर्णन किया गया है। करणानुयोगका मूलसार लेकर "लब्धिसार" में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा उसकी उत्पत्तिके फलका सांगोपांग विवेचन किया गया है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमें आत्मविशुद्धि ही मुख्य है। यथार्थमें सम्यग्दर्शन के तीन भेद निमित्तकी अपेक्षा वर्णित किए गये हैं। उक्त ग्रन्थमें आत्माके दर्शन और चारित्र गुण रूप शक्तियोंके प्रकट होनेकी योग्यता रूप लब्धिका विशद विवेचन किया गया है। इसलिये इसका नाम "लब्धिसार" सार्थक है। मुख्य रूपसे दर्शनलब्धि और चारित्र-लब्धिका स्वरूप और उनके भेदोंका तथा उनकी कारण-सामग्रीका वर्णन छह अधिकारोंमें किया गया है। अधिकारोंका विभाजन इस प्रकार किया गया है: (१) प्रथमोपशम सम्यक्त्व लब्धि, (२) क्षायिक सम्यक्त्व लब्धि, (२) देशसंयम लब्धि, (४) सकलसंयम लब्धि, (५) औपशमिक चारित्र लब्धि, (६) क्षायिक चारित्र लब्धि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org